INNOVATIVE RESEARCH THOUGHTS IN SOCIAL SCIENCES
Peer Review, Refereed, Biannual, Multiple Language (Hindi & English), Social Science Journal, Open Access Journal
ISSN: 3107-5096(ONLINE)
VOL. 2, ISSUE 2 (JUNE) 2026

संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका : मूल ढांचा सिद्धांत के कार्यकरण के 50 वर्षों के अनुभव का अध्ययन

प्रो0 सीमा पंवार
प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान विभाग
मेरठ कॉलेज मेरठ, उत्तर प्रदेश

मनीषा कनोजिया
शोधार्थी
राजनीति विज्ञान विभाग
मेरठ कॉलेज मेरठ, उत्तर प्रदेश

Citation:
Panwar, S., & Kanojiya, M. (2026). संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका :मूल ढांचा सिद्धांत के कार्यकरण के 50 वर्षों के अनुभव का अध्ययन. In Innovative Research Thoughts in Social Sciences (Vol. 2, Number 2, pp. 182–191). **DOI**. https://doi.org/10.5281/zenodo.20928838

सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र में संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका का वर्ष 1973 में केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य वाद में जन्में, संविधान का मूल ढांचा सिद्धांत के विशेष संदर्भ में विश्लेषण किया गया है। इस शोध पत्र में विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश के सर्वोच्च न्यायालय के गठन, कार्यकरण एवं संविधान के संरक्षक के रूप में उसकी भूमिका का दस्तावेजीकरण किया गया है। संविधान के मूल ढांचे से तात्पर्य संविधान के उन बुनियादी सिद्धान्तों से है जिन पर संविधान टिका हुआ है और जिनको संविधान संशोधन के माध्यम से भी परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। संविधान के मूल ढांचे का सिद्धांत भारत में विधायिका और न्यायपालिका के मध्य शक्ति संबंधों को लेकर चले लंबे विवाद की अंतिम परिणिति है। इस सिद्धांत ने न केवल भारत बल्कि विश्व के अन्य देशों के की न्यायिक व्यवस्थाओं के लिए भी एक मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में कार्य किया है। संविधान के मूल ढांचा सिद्धांत के कार्यकरण के 50 वर्ष पूरे हो चूके हैं। ऐसे में इस सिद्धांत के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय ने किस प्रकार संविधान की संरक्षा की है, इसका विश्लेषण इस शोध पत्र का केंद्र बिंदु है। इसके साथ संविधान के मूल ढांचे का विभिन्न वादों के माध्यम से हुआ विस्तार भी इस शोध पत्र में उल्लिखित किया गया है। संविधान का मूल ढांचा सिद्धांत की कमियां एवं भविष्यपथ की चर्चा भी इस शोध पत्र का महत्वपूर्ण बिंदु है। शोध पत्र को पूरा करने में ऐतिहासिक, वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। इस हेतु प्राथमिक एवं द्वितीयक श्रोतों का सहारा लिया गया है।

मुख्य शब्द– *सर्वोच्च न्यायालय, संविधान का मूल ढांचा, केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य वाद, संविधान।*

प्रस्तावना एवं सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य

किसी भी राज्य का प्रथम कर्तव्य व्यक्ति को सुरक्षित–शांतिपूर्ण तथा भेदभाव रहित गरिमा पूर्ण जीवन की उपलब्धता सुनिश्चित करना है। न्याय राजनीति सिद्धांत की प्राचीनतम अवधारणाओँ में से एक है।[1] "राज्य का प्रारंभिक रूप न्याय करने वाली संस्था है और न्यायकार्य में राजनीतिक सत्ता का पहला संकेत मिलता है।"[2] एक न्याययुक्त समाज का आदर्श प्लेटो से लेकर जॉन रॉल्स और रॉबर्ट नॉजिक तक राजनीतिक चिंतन के संपूर्ण इतिहास का केंद्र बिंदु रहा है। प्रोफेसर गार्नर के शब्दों में "एक सभ्य समाज की कल्पना बिना न्याय विभाग के नहीं की जा सकती। कोई भी समाज विधानमंडल के बिना रह सकता है लेकिन न्यायपालिका के अभाव में एक सभ्य समाज का कोई अस्तित्व नहीं है।" भारतीय संविधान के शिल्पकार एक नवोदित लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में न्यायपालिका के महत्व एवं भूमिका से भिज्ञ थे। इसीलिए भारत का संविधान एक एकीकृत, स्वतंत्र एवं सक्षम न्यायपालिका की स्थापना करता है। इसमें जिला स्तर पर जिला न्यायालय, राज्य स्तर पर उच्च न्यायालय तथा न्यायपालिका के सर्वोच्च शिखर पर उच्चतम न्यायालय है। संविधान के संरक्षण एवं निर्वचन का कार्य संविधान ने उच्चतम न्यायालय को ही सौंपा है। भारतीय संविधान के संरक्षण एवं निर्वचन के क्रम में ही सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मूल ढांचे के सिद्धांत का सृजन किया गया, जिसका तात्पर्य भारतीय संविधान के उन आधारभूत सिद्धांतों, उपबंधों एवं मूल्यों से है जिन पर यह संविधान रूपी भवन टिका हुआ है और जिनके अभाव में संविधान की निर्मिति का मूल उद्देश्य ही धूमिल हो जाएगा। संविधान के उन उपबंधों, सिद्धांतों या मूल्यों जिन्हें मूल ढांचे का हिस्सा माना गया है, में संसद भी संशोधन नहीं कर सकती। मूल ढांचा की अवधारणा गतिशील है लेकिन अभी तक दिए गए विभिन्न फैसलों के आधार पर निम्नलिखित की 'मूल संरचना' अथवा इसके तत्वों के रूप में पहचान की जा सकती है:

- *संविधान की सर्वोच्चता*
- *भारतीय राज्य की संप्रभु, लोकतांत्रिक तथा गणतंत्रात्मक प्रकृति*
- *संविधान का पंथनिरपेक्ष चरित्र*
- *विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के बीच शक्ति का विभाजन*
- *संविधान का संघीय स्वरूप*
- *राष्ट्र की एकता एवं अखंडता*
- *कल्याणकारी राज्य (सामाजिक–आर्थिक न्याय)*
- *न्यायिक समीक्षा*
- *वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं गरिमा*
- *संसदीय प्रणाली*
- *कानून का शासन*
- *मौलिक अधिकारों तथा नीति–निदेशक सिद्धांतों के बीच सौहार्द और संतुलन*
- *समत्व का सिद्धांत*
- *स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव*
- *न्यायपालिका की स्वतंत्रता*
- *संविधान संशोधन की संसद की सीमित शक्ति*
- *न्याय तक प्रभावकारी पहुंच*
- *मौलिक अधिकारों के आधारभूत सिद्धांत (या सारतत्व)*
- *अनुच्छेद 32, 136, 141 तथा 142 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त शक्तियां*
- *अनुच्छेद 226 तथा 227 के अंतर्गत उच्च न्यायालयों की शक्ति*[3]

इस सिद्धांत के सृजन ने एक तरफ जहां संविधान संशोधन की संसद की शक्ति को सीमांकित और परिभाषित किया वहीं न्यायपालिका एवं कार्यपालिका के मध्य चले आ रहे दीर्घकालिक टकराव को भी परिणति तक पहुंचाने में अहम भूमिका का निर्वहन किया है। संविधान का आधारभूत, मूलभूत या मूल ढांचा सिद्धांत भारतीय संविधान का सुरक्षा कवच है। यह संविधान की मूलभूत चेतना के हमेशा बने रहने की प्रतिभूति देता है। यह सिद्धांत संविधान को किसी

विचारधारा विशेष की सरकार द्वारा एकतरफा संशोधित कर दिए जाने की अटकलों को भी विराम देता है। इस सिद्धांत से प्रेरित एवं प्रभावित होकर दूसरे विकासशील देशों के न्यायालयों ने भी संविधान के संरक्षण हेतु इसे एक उपयोगी साधन के रूप में माना है।

मूल ढांचा सिद्धांत आकस्मिक विकास का परिणाम नहीं है अपितु इसकी पृष्ठभूमि में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए विभिन्न वादों के द्वारा संसद की संविधान संशोधन की शक्ति पर अंतर्विरोधी निर्णयों का परिणाम है। यह सिद्धांत सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए अभी तक के निर्णयों में सर्वाधिक दूरगामी प्रभाव वाला सिद्ध हुआ है। इस सिद्धांत की विशेषता ही यह है कि भारतीय संविधान में इसका उल्लेख न होने पर भी यह सिद्धांत समकालीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था के केंद्र में निहित है, जिसकी प्रासंगिकता को समय–समय पर न्यायपालिका द्वारा विभिन्न वादों में किए गए निर्णयों के माध्यम से रेखांकित किया गया है। मूल ढांचे के सिद्धांत की प्रकृति अत्यंत व्यापक है जिसकी सीमाओं का परिसीमन सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अभी तक नहीं किया गया है। मूल ढांचा सिद्धांत को कभी भी ठंडे बस्ते में लाकर नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि यह निरंतर अपनी जीवंतता को बनाए रखता है। जब कभी कार्यपालिका या विधायिका द्वारा संविधान की मूल भावना के साथ छेड़छाड़ करने का प्रयास किया जाएगा यह सिद्धांत संविधान के प्रहरी की भांति संविधान की मूल भावना को संरक्षित करेगा। भारतीय न्यायपालिका द्वारा संविधान की व्याख्या की प्रक्रिया अनवरत विकास कर रही है, इसीलिए आजादी के 75 वर्षों के बाद भी भारतीय संविधान एक जीवंत दस्तावेज की तरह अपना अस्तित्व बनाए हुए है। न्यायपालिका को यह शक्ति प्रदत्त करने वाला सबसे महत्वपूर्ण प्रावधान भारतीय संविधान में उपबंधित अनुच्छेद 13 है जो मूल अधिकारों से असंगत या उनका अल्पीकरण करने वाली विधियों से संबंधित है जिससे सामान्यतः न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त होती है। भारतीय संविधान द्वारा स्थापित शक्ति–संतुलन को स्थिर रखने तथा संसद की शक्ति को उसकी निर्धारित सीमाओं में बांधने के लिए न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का होना आवश्यक है। इस संदर्भ में उच्चतम न्यायालय की 7 सदस्यीय संविधान पीठ ने अपने निर्णय में स्पष्ट किया कि न्यायिक पुनरावलोकन संविधान की महत्वपूर्ण व्यवस्था है। संसद के द्वारा किसी भी संवैधानिक संशोधन के माध्यम से न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को सीमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था कितनी आवश्यक है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता भारतीय संविधान के मूल ढांचे का हिस्सा है।[4]

मूल ढांचा सिद्धांत के 50 वर्ष– एक सिंहावलोकन– सर्वविदित है कि केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य वाद 1973 से मूल ढांचे के सिद्धांत का सृजन होता है। लेकिन गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसके बीजों का प्रस्फुटन शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ वाद 1951, जिसमें कहा गया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है और सज्जन सिंह बनाम राजस्थान वाद जिसमें शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ वाद के निर्णय का अनुसरण किया गया, से प्रारंभ होता है। जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप सर्वोच्च न्यायालय ने 11 न्यायाधीशों की न्यायपीठ के ऐतिहासिक निर्णय गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य 1967 में उक्त दोनों निर्णयों को उलटते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 13 खंड (3) में परिभाषित 'विधि' शब्द में संविधान संशोधन सम्मिलित है अतः संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। इस निर्णय के प्रभाव को समाप्त करने हेतु प्रतिक्रियास्वरूप संसद द्वारा 24वां संविधान संशोधन अधिनियम 1971 पारित कर यह स्पष्ट किया गया कि अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद (368) के अधीन किए गए किसी संशोधन को लागू नहीं होगी।[5] अतः संसद संविधान के किसी भी भाग जिसमें मौलिक अधिकार भी सम्मिलित हैं, में संशोधन कर सकती है। हालांकि यह उल्लेखनीय है कि उक्त वाद गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य 1967 में संसद की शक्तियों को सीमित करते हुए उसकी निरंकुशता

पर अंकुश रखने का कार्य किया गया जिसके परिणामस्वरुप उक्त 24वां संविधान संशोधन संसद द्वारा पारित किया गया जिसकी संवैधानिकता को केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य वाद 1973 के मामले में उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई।

केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य वादः– 24 अप्रैल 1973 को दिया गया केशवानंद भारती वाद का निर्णय भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का एक ऐतिहासिक निर्णय है। 24 अप्रैल 1973 को सुनाया गया केशवानंद भारती वाद का निर्णय भारत के सर्वोच्च न्यायालय का एक ऐतिहासिक फैसला है। यह मामला केरल के एक हिंदू धार्मिक मठ के प्रमुख श्री केशवानंद भारती द्वारा दायर किया गया था, जिसमें भारतीय संविधान के 24वें, 25वें और 29वें संशोधन की संवैधानिक वैधता को चुनौती दी गई थी,[6] जिसमें न्यायपालिका की शक्तियों और नागरिकों के मौलिक अधिकारों को कम करने की कोशिश की गई थी। केशवानंद भारती मामले की सुनवाई भारत के सर्वोच्च न्यायालय के 13 न्यायाधीशों की पीठ ने की, जिससे यह भारतीय कानूनी इतिहास की सबसे बड़ी पीठों में से एक बन गई। पीठ में मुख्य न्यायाधीश एस.एम. सीकरी, न्यायमूर्ति जे.एम. शेलट, न्यायमूर्ति के.एस. हेगड़े, न्यायमूर्ति ए.एन. ग्रोवर, न्यायमूर्ति ए.एन. रे, न्यायमूर्ति पी. जगनमोहन रेड्डी, न्यायमूर्ति डी.जी. पालेकर, न्यायमूर्ति एच.आर. खन्ना, न्यायमूर्ति के.के. मैथ्यू, न्यायमूर्ति एम.एच. बेग, न्यायमूर्ति एस.एन. द्विवेदी, न्यायमूर्ति ए.के. मुखर्जी और न्यायमूर्ति वाई. वी. चंद्रचूड़।[7] इस वाद के मुख्य न्यायाधीश सर्व मित्र सीकरी थे। इस मामले की सुनवाई के लिए संविधान पीठ की स्थापना की गई थी क्योंकि इसमें संविधान में संशोधन करने के लिए संसद की शक्तियों के बारे में महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्न शामिल थे। पीठ ने विभिन्न दलीलें सुनने और अंतिम निर्णय देने में 6 माह का समय लिया। सर्वोच्च न्यायालय ने ऐतिहासिक 7:6 बहुमत के फैसले में संविधान के मूल ढांचे के सिद्धांत को प्रतिपादित किया जिसके अनुसार संविधान की कुछ मौलिक विशेषताओं–जैसे लोकतंत्र, पंथनिरपेक्षता, संघवाद और कानून का शासन को संसद द्वारा संशोधित नहीं किया जा सकता।[8] न्यायालय ने यह भी माना कि न्यायिक समीक्षा की शक्ति संविधान के मूल ढांचे का एक अभिन्न अंग है और इसे संसद द्वारा संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से छीना नहीं जा सकता है। इस सिद्धांत ने संसद की संविधान में संशोधन करने की शक्ति पर अंकुश लगाया और यह सुनिश्चित किया कि संविधान अपने मौलिक मूल्यों और सिद्धांतों को सुरक्षित करते हुए एक जीवंत दस्तावेज बना रहे। इस प्रकार केशवानंद भारती मामले का भारत के संवैधानिक विकास पर दूरगामी प्रभाव पड़ा जिससे यह स्वातंत्र्योत्तर भारतीय न्यायिक इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण मामलों में से एक बन गया।

सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय के परिणामस्वरूप संसद द्वारा जवाबी प्रतिक्रिया में 42वां संविधान संशोधन अधिनियम 1976 पारित किया गया, जिसकी विस्तृत व्याख्या मूल ढांचा सिद्धांत की विकास यात्रा के अगले निर्णय में की जाएगी।

इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राज नारायण मामला (1975)– इंदिरा गांधी बनाम राज नारायण और अन्य का मामला भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण क़ानूनी लड़ाईयों में से एक है। इस वाद में भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी पर चुनावी कदाचार का आरोप लगाया गया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नेता इंदिरा गांधी ने 1971 में हुए आम चुनाव में कांग्रेस दल के नेता के रूप में भाग लिया था और 518 में से 352 सीटों पर जीत हासिल की थी। रायबरेली लोकसभा सीट से श्रीमती इंदिरा गांधी के विपक्षी उम्मीदवार राज नारायण ने उनकी जीत को इलाहाबाद उच्च न्यायलय में याचिका दायर करके चुनौती दी। राजनारायण ने अपनी याचिका में आरोप लगाया कि चुनाव जीतने के लिए प्रधानमंत्री ने भ्रष्ट साधनों का सहारा लिया और सरकारी मशीनरी का दुरुपयोग किया है। प्रधानमंत्री पर चुनाव में तय सीमा से ज्यादा पैसा खर्च करने का आरोप भी लगाया गया।[9] यह मामला इलाहाबाद उच्च न्यायालय में दायर किया गया था और न्यायमूर्ति जगमोहन लाल सिन्हा ने कार्यवाही की अध्यक्षता की थी। 12 जून 1975 को न्यायमूर्ति जगमोहन

लाल सिन्हा ने ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए रायबरेली से इंदिरा गांधी के चुनाव को अमान्य घोषित कर दिया।[10] न्यायालय ने माना कि वह भ्रष्ट चुनावी प्रथाओं में लिप्त थीं। यह किसी भारतीय न्यायालय द्वारा किसी मौजूदा प्रधानमंत्री के चुनाव को अमान्य ठहराने का पहला उदाहरण था। फैसले के परिणामस्वरुप इंदिरा गांधी न केवल अपनी संसदीय सीट से बेदखल कर दी गईं बल्कि 6 साल तक किसी भी सार्वजनिक पद पर रहने के लिए भी अयोग्य घोषित कर दी गईं। परंतु यह समस्या यहीं पर समाप्त नहीं होती है। इंदिरा गांधी ने फैसले को पलटने की मांग करते हुए भारत के सर्वोच्च न्यायालय में अपील की लेकिन यह अपील ऐसे समय में की गई जब सर्वोच्च न्यायालय अवकाश पर था। इसलिए अवकाश पीठ के न्यायमूर्ति कृष्णअय्यर द्वारा उच्च न्यायालय के फैसले पर अमली जामा पहनाने का आदेश दे दिया। इस बीच तत्कालीन राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद ने आंतरिक अशांति के आधार पर अनुच्छेद 352 में प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा की और 39वें संविधान संशोधन के माध्यम से अनुच्छेद 329 (ए) पेश किया गया।[11] इस अनुच्छेद में प्रावधान था कि प्रधानमंत्री के चुनाव को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस संशोधन के परिणामस्वरुप इंदिरा गांधी मामले में सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार में कटौती की गई फलतः उच्चतम न्यायालय के समक्ष मुख्य मुद्दा अनुच्छेद 329 ए की संवैधानिक वैधता का था। इसके अलावा "जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1974" चुनाव कानून (संशोधन) अधिनियम 1975 और इंदिरा गांधी के चुनाव की वैधता पर भी सवाल उठाए गए। याचिकाकर्ता के द्वारा दावा किया गया कि अनुच्छेद 329 ए न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को समाप्त करता है। हमारे देश में संवैधानिक व्यवस्था सरकार की तीन शाखाओं के बीच शक्तियों के पृथक्करण पर बल देती है। इसलिए यदि न्यायपालिका की न्याय करने की शक्तियों को निरस्त या कम किया जाता है तो यह संविधान द्वारा स्थापित शक्ति संतुलन के खिलाफ है। उन्होंने आगे तर्क दिया कि कानून के शासन और न्यायिक समीक्षा के सिद्धांत हमारे संविधान का अभिन्न अंग हैं, इसलिए उन्हें नुकसान नहीं पहुंचाया जा सकता। जैसे कि मूल अधिकारों के मामले में स्थापित किया गया है। जिसपर उच्चतम न्यायालय द्वारा बहुमत से यह निर्णय दिया गया कि संशोधन अधिनियम भारतीय संविधान के मूल ढांचे के साथ असंगत है, परिणामस्वरुप इन अधिनियमों को इस आधार पर शून्य घोषित कर दिया गया कि वे न्यायालय के अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन करते हैं और न्यायिक समीक्षा के सिद्धांत को कमजोर करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने केशवानंद भारती मामले में ऐतिहासिक निर्णय पर भरोसा करते हुए अनुच्छेद 329 ए खंड (4) को संवैधानिक रूप से अमान्य घोषित कर दिया। न्यायालय का मत था कि संशोधन "शक्तियों के पृथक्करण" के सिद्धांत का उल्लंघन करने वाला है। सर्वोच्च न्यायालय ने 4–1 के विभाजन निर्णय में निचली अदालत के फैसले को बरकरार रखा लेकिन निर्णय की तिथि से अयोग्यता अवधि को छहः वर्ष तक संशोधित किया। इस वाद का फैसला करते हुए न्यायालय ने माना कि अनुच्छेद 329। के खंड (4) और (5) असंवैधानिक हैं और इसलिए शून्य हैं।[12] इस प्रकार अनुच्छेद 329 ए खंड (4) को असंवैधानिक घोषित कर दिया गया क्योंकि यह संविधान की मुख्य तीन विशेषताओं का उल्लंघन करता था जो सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस प्रकार स्पष्ट की गई हैं–

लोकतांत्रिक विशेषताः– क्योंकि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 329 में चुनाव विवाद को उचित प्राधिकारी के समक्ष प्रस्तुत कर सुलझाने की प्रस्थापना दी गई है इसलिए संसद द्वारा संवैधानिक संशोधन के माध्यम से इसे समाप्त नहीं किया जा सकता। **शक्ति पृथक्करण का सिद्धांतः**– इसका प्रयोग विधायिका द्वारा एक विशुद्ध न्यायिक कार्य के रूप में किया जाना चाहिए ना कि स्वयं के स्वार्थ हेतु इस सिद्धांत का दुरुपयोग किया जाए। **स्थिति और अवसर की समानताः**– क्योंकि भारत के प्रधानमंत्री के चुनाव के लिए विशेष अधिकार प्राप्त व्यवस्था बनाने का कोई तर्कसंगत आधार नहीं था। इस प्रकार इंदिरा गांधी बनाम राज नारायण वाद में मूल ढांचा सिद्धांत के अंतर्गत उक्त तीन आधारों को

सम्मिलित किया गया। मूल ढांचे सिद्धांत को अन्य विभिन्न मामलों के माध्यम से समय–समय पर पुष्ट एवम् स्पष्ट किया गया जिसमें एक अन्य प्रमुख वाद मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ 1980 है।

मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ (1980):– इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 368 का खंड (4) विधि संगत नहीं है क्योंकि यह न्यायिक पुनरावलोकन को समाप्त करने की लिए पारित किया गया था। न्यायिक पुनरावलोकन का सिद्धांत संविधान का आधारभूत लक्षण है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 368 का खंड (4) 42वें संविधान संशोधन 1976 द्वारा जिसे भारत का लघु संविधान भी कहा जाता है, जोड़ा गया। इस संशोधन के द्वारा उद्देशिका में तीन नए शब्द–समाजवादी, पंथनिरपेक्ष और अखंडता जोड़े गए। संविधान में भाग 4क अनुच्छेद 51क में नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों को जोड़ा गया।[13] राष्ट्रपति को कैबिनेट की सलाह के लिए बाध्य किया गया, प्रशासनिक अधिकरणों की व्यवस्था की गई, 1971 की जनगणना के आधार पर लोकसभा एवं राज्य विधानसभा की सीटों को निश्चित किया गया, संवैधानिक संशोधन को न्यायिक जांच से बाहर किया गया, न्यायिक समीक्षा की शक्ति में कटौती की गई, लोकसभा एवं विधानसभा का कार्यकाल 6 वर्ष किया गया, राज्य की नीति के निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन हेतु बनाई गई विधियों को मूल अधिकारों के उल्लंघन के आधार पर अविधिमान्य करने से रोका गया। सर्वोच्च न्यायलय ने निर्णय दिया कि संविधान (बयालीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 55 जिसने अनुच्छेद 368 में उप–धारा (4) और (5) को शामिल किया था, इस आधार पर कि यह संविधान के मूल ढांचे को नुकसान पहुँचाता है और संसद की संशोधन शक्ति से परे है असंवैधानिक और शून्य हैं।[14] वर्ष 1980 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 42वें संविधान संशोधन 1976 के कुछ प्रावधानों को अविधिमान्य घोषित कर दिया गया क्योंकि इसमें न्यायिक समीक्षा के लिए न्यायपालिका की शक्ति को कोई स्थान प्राप्त नहीं था जोकि भारतीय न्यायपालिका की मुख्य विशेषता है। अतः मूल ढांचे के सिद्धांत को लागू करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संसद संविधान संशोधन करने की शक्ति को चरम सीमा अथवा निरंकुश सीमा तक नहीं बढ़ा सकती। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने केशवानंद भारती मामले में सबसे पहले प्रतिपादित बुनियादी ढांचा के सिद्धांत को मजबूत किया और माना कि समाजिक कल्याण कानूनों को मौलिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा किए गए कुछ बदलावों को भी न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया। इस प्रकार उक्त वाद में भी मूल ढांचे सिद्धांत के अंतर्गत प्रमुख तीन विषयों को आधार माना किया गया–[15]

- संसद की संविधान संशोधन की सीमित शक्ति।
- मूल अधिकारों और राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में सामंजस्य।
- कुछ मामलों में मूल अधिकार।

एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ (1981):– न्यायपालिका की स्वतंत्रता लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था का आधार स्तंभ है जिसमें निहित कुछ प्रमुख बातें हैं– न्यायपालिका का सरकार के अन्य विभागों के हस्तक्षेप से मुक्त होना, न्यायपालिका के निर्णयों में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप का वर्जन, न्यायाधीशों को भय या पक्षपात के बिना न्याय करने की स्वतंत्रता होना आदि। यदि किसी भी न्यायपालिका को उपर्युक्त अधिकार प्राप्त नहीं हैं तो वहां लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था सुचारू रूप से चल ही नहीं सकती। एस.पी. गुप्ता केस 1981 को फर्स्ट जजेज केस भी कहा जाता है। इसने उपबंध किया कि राष्ट्रपति को भारत के मुख्य न्यायाधीश की सिफारिश की प्रधानता को बाध्यकारी कारणों से खारिज किया जा सकता है जिसे वर्ष 1993 के 'सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट ऑन रिकॉर्ड एसोसिएशन' बनाम भारत संघ वाद में 9 न्यायाधीशों की संविधान पीठ द्वारा खारिज कर दिया और उच्चतम व उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं स्थानांतरण के लिए 'कॉलेजियम सिस्टम' नामक एक विशिष्ट प्रक्रिया तैयार करने की बात कही गई। साथ ही

संवैधानिक पीठ ने कहा कि उच्चतम व उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए केवल उसी व्यक्ति को उपयुक्त माना जाना चाहिए जो सक्षम, निडर और स्वतंत्र हों क्योंकि कानूनी विशेषज्ञता, किसी मामले को संभालने की क्षमता, उचित व्यक्तिगत आचरण, नैतिक व्यवहार, दृढ़ता एवं निर्भयता एक श्रेष्ठ न्यायाधीश के रूप में उसकी नियुक्ति के लिए आवश्यक विशेषताएं हैं। इस प्रकार उक्त वाद में मूल ढांचा सिद्धांत के अंतर्गत मुख्यतः दो आधारों को सम्मिलित किया गया है जैसेः

- अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता।
- स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका।

एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994):– एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ मामला, जिसका निर्णय सन् 1994 में भारत के सर्वोच्च न्यायालय की 9 न्यायाधीशों की पीठ ने किया था, अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राज्य सरकारों को मनमानी ढंग से बर्खास्त करने पर प्रतिबंध लगाता है। इस वाद के निर्णय में अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग को भी दर्ज किया गया। इस वाद के निर्णय में अनुच्छेद 356 के दायरे और सीमाओं पर स्पष्टता प्रदान की गई तथा केवल असाधारण परिस्थितियों में ही इसके उपयोग पर बल दिया गया। इस मामले में संघवाद के सिद्धांतों की पुष्टि की गई तथा यह कहा गया कि राज्य सरकार केंद्र के अधीन नहीं है। इस निर्णय के माध्यम से सहकारी संघवाद की अवधारणा की पहल की गई। इस मामले के निर्णय में अनुच्छेद 356 के तहत राष्ट्रपति के कार्यों की जांच करने, संवैधानिक सिद्धांतों का पालन सुनिश्चित करने और सत्ता के दुरुपयोग को रोकने में न्यायपालिका की भूमिका पर जोर दिया गया। इसमें पुष्टि की गई कि सरकार के बहुमत का परीक्षण करने का एकमात्र अधिकार विधानसभा का है न कि राज्यपाल की व्यक्तिपरक राय। इसलिए इसका प्रभाव भारत के संवैधानिक ढांचे को आकार देने में वर्तमान समय में बना हुआ है। इसके अंतर्गत भी मूल ढांचा सिद्धांत की व्याख्या का आधार मुख्यतः इन बिंदुओं पर टिका हुआ है जो कि लोकतंत्रात्माक शासन व्यवस्था के प्रमुख स्तंभ कहे जा सकते हैं– संघवाद, पंथनिरपेक्षता, लोकतंत्र, राष्ट्र की एकता एवं अखंडता, सामाजिक न्याय, न्यायिक समीक्षा।[16]

एल. चंद्र कुमार बनाम भारत संघ (1997):– सुप्रीम कोर्ट के ऐसे फैसले जिन्होंने भारतीय राजनीति और कानून का चेहरा बदल दिया, में एल. चंद्र कुमार बनाम भारत संघ मामला भी प्रमुख है। उक्त वाद में संसद द्वारा संविधान संशोधन से कई समस्याएं सामने आईं जिनमें अनुच्छेद 323–क और अनुच्छेद 323–ख को शामिल किया गया था। अनुच्छेद 323–क प्रशासनिक अधिकरण– "संसद विधि द्वारा संघ या किसी राज्य के अथवा भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर या भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अथवा सरकार के स्वामित्व या नियंत्रण के अधीन किसी निगम के कार्यकलाप से संबंधित लोक सेवाओं और पदों के लिए भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों के संबंध में विवादों और परिवादों के प्रशासनिक अधिकरणों द्वारा न्यायनिर्णयन या विचारण के लिए उपबंध कर सकेगी।"[17] अनुच्छेद 323–ख अन्य विषयों के लिए अधिकरण– "(1) समुचित विधान–मंडल विधि द्वारा ऐसे विवादों परिवादों या अपराधों के अधिकरणों द्वारा न्याय–निर्णयन या विचारण के लिए उपबंध कर सकेगा जो खंड (2) में विनिर्दिष्ट उन सभी या किन्हीं विषयों से संबंधित है जिनके संबंध में ऐसे विधान–मंडल को विधि बनाने की शक्ति है।"[18] प्रस्तुत वाद में प्रमुख प्रश्न था कि अनुच्छेद 323–क और अनुच्छेद 323–ख के माध्यम से उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र का बहिष्कार न्यायिक समीक्षा के सिद्धांत के खिलाफ था जो संविधान की बुनियादी विशेषता थी। इस मुद्दे पर विचार करते हुए न्यायालय ने प्रशासनिक न्यायाधिकरण अधिनियम जैसे विभिन्न कानूनों के साथ–साथ संपत कुमार निर्णय और विधानसभा की बहस का सहारा लिया न्यायालय ने उपयुक्त घटनाओं पर सावधानीपूर्वक विचारण करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि न्यायिक समीक्षा वास्तव में भारतीय संविधान की एक बुनियादी विशेषता है साथ ही न्यायालय ने संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष

डॉ. भीमराव अंबेडकर के अनुच्छेद 25 पर विचार जो वर्तमान में अनुच्छेद 32 में उपबंधित पर भरोसा किया जहां उन्होंने तर्क दिया कि यह अनुच्छेद भारतीय संविधान की आत्मा है। इसके अलावा न्यायालय के समक्ष दूसरा प्रमुख मुद्दा यह था कि क्या भारतीय संविधान के अनुच्छेद 323–क और अनुच्छेद 323–ख के तहत गठित न्यायाधिकरण के पास किसी वैधानिक नियम या प्रावधान की संवैधानिक वैधता का परीक्षण करने की क्षमता है। इस संबंध में न्यायालय ने कहा कि मुकदमों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि को देखते हुए न्यायालय की समीक्षा के लिए वैकल्पिक प्रश्नों का प्रावधान करना महत्वपूर्ण है। इसका मतलब यह था कि संपत कुमार मामले में लिया गया दृष्टिकोण सही था क्योंकि इसने विभिन्न उच्च न्यायालय में मामलों के देर से निपटने के लिए वैकल्पिक संस्थान तंत्र के सिद्धांत को प्रतिपादित किया था। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसे मुद्दों से निपटने के दौरान न्यायालय ने माना कि न्यायाधिकरणों के निर्णय अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय के द्वारा न्यायिक समीक्षा के अधीन होंगे। इससे दो उद्देश्य पूरे हुए–पहला इससे उच्च न्यायालय की न्यायिक समीक्षा की शक्ति बरकरार रही और दूसरा यदि उच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र लागू होने से पहले कोई मुकदमा छोटा या कुछ हो तो न्यायाधिकरण उसे छांटकर अलग कर देगा। इस प्रकार उपर्युक्त प्रावधानों के अंतर्गत मूल ढांचे सिद्धांत की व्याख्या का आधार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को माना गया है जो सर्वोच्च न्यायालय को भारतीय संविधान में उपबंधित अनुच्छेद 13 द्वारा प्रदान की गई है जो न्यायपालिका को संसद द्वारा बनाई गई विधियों जो मूल अधिकारों से असंगत अथवा उनका अल्पीकरण करती हैं की समीक्षा करने की शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार उपयुक्त पूरे फैसले में मुख्य विषय यह था कि न्यायाधिकरण न्यायिक समीक्षा की शक्ति का विकल्प नहीं हो सकते और नहीं होंगे जो शक्ति संविधान द्वारा उच्च न्यायालय को दी गई है न्यायाधिकरण उच्च न्यायालय को उनके कार्य करने में सहायता करने के लिए पूरक संस्थाओं के रूप में कार्य करेंगे इसके अलावा न्यायाधिकरण उच्च न्यायालय की निगरानी में रहेंगे और उन्हें किसी भी तरह से उच्च न्यायालय के समानांतर संस्थान नहीं माना जा सकता हैं।

वामन राव बनाम भारत संघ वाद (1981)– इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने मूल संरचना के सिद्धांत का पालन किया और स्पष्ट किया कि केशवानंद भारती बानाम केरल राज्य 24 अप्रैल 1973वां संविधान संशोधन अधिनियमों पर लागू होगा। इस प्रकार मूल ढांचा सिद्धांत की वर्तमान स्थिति यह है कि अनुच्छेद 368 के तहत संसद संविधान के किसी भी हिस्से जिसमें मौलिक अधिकार भी शामिल है, में संशोधन तो कर सकती है लेकिन संविधान की मूल ढांचे को प्राभावित किए बिना।

इसके अतिरिक्त मूल ढांचा सिद्धांत से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण वाद हैं– ऑल इंडिया जजेज एसोसिएशन बनाम भारतीय संघ (2002), कुलदीप नायर बनाम भारतीय संघ (2006), एम. नागराज बनाम भारतीय संघ (2006), आई.आर. कोएल्हो बनाम तमिलनाडु राज्य (2007), राम जेठमलानी बनाम भारतीय संघ (2011), नमित शर्मा बनाम भारतीय संघ (2013), मद्रास बार एसोसिएशन बनाम भारतीय संघ (2014) आदि।[19]

मूल ढांचा सिद्धांत की प्रासंगिकता– क्योंकि संविधान, उसके मूल्यों व उद्देश्यों के संरक्षण का कार्यभार भारतीय न्यायपालिका को सौंपा गया है। भारतीय न्यायपालिका द्वारा इन उद्देश्यों के दृष्टिगत विभिन्न प्रकार के निर्णय एवं सिद्धांतों का सृजन किया गया है जिसमें सबसे प्रभावी मूल ढांचे का सिद्धांत साबित हुआ है। इसके अंतर्गत कोई भी संशोधन जो संविधान की सर्वोच्चता को कमतर करने का प्रयास करता है उसे मूल ढांचे के सिद्धांत का उल्लंघन माना जाएगा। साथ ही मूल ढांचा सिद्धांत में सरकार का एक गणतंत्रात्मक और लोकतंत्रात्मक स्वरूप शामिल है जो यह सुनिश्चित करता है कि लोगों की इच्छा राज्य की गतिविधियों में प्रतिबंधित होनी चाहिए। इस प्रकार उक्त सिद्धांत के माध्यम से न्यायपालिका के क्षेत्राधिकार में विधायिका व कार्यपालिका के हस्तक्षेप करने की असीमित शक्ति को बहुत ही सीमित कर दिया गया है। इसका प्रमुख उदाहरण 99वां संविधान संशोधन

अधिनियम भी हैं जिसके माध्यम से न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं स्थानांतरण के मामले में कॉलेजियम व्यवस्था को समाप्त कर राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग का प्रावधान कर स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका जो संविधान का आधारभूत ढांचा है, को नष्ट करने को प्रयास किया गया परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय सुप्रीम कोर्ट ऑन रिकॉर्ड बनाम भारत संघ 2015 के मामले में मूल ढांचे के सिद्धांत को आधार बनाते हुए इस संशोधन को असंवैधानिक घोषित किया। सर्वोच्च न्यायालय ने उक्त सिद्धांत के माध्यम से 50 वर्षों तक संविधान उसके मूल्यों, आदर्शों एवं सिद्धांतों का भी संरक्षण किया है। उक्त सिद्धांत के कार्यकरण के 50 वर्षो के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय न्यायपालिका द्वारा इस सिद्धांत के माध्यम से संविधान के मूल में निहित विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयास किया गया है जिनमें कुछ मुख्य उद्देश्यों की सूची बिंदुवार दी गई है;

- संविधान की सर्वोच्चता को बनाए रखना।
- संवैधानिक नैतिकता को बनाए रखना।
- संविधान की अखंडता को बनाए रखना।
- स्थिरता और निरंतरता सुनिश्चित करना।
- लोकतंत्र की रक्षा करना।
- मौलिक अधिकारों की रक्षा करना।
- न्यायिक समीक्षा को बढ़ावा देना।

निष्कर्ष – एक तरफ जहां भारतीय संविधान के मूल ढांचे के सिद्धांत ने संविधान की अखंडता एवं मूलभूत सिद्धांतों की रक्षा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, वहीं विभिन्न संविधानवेत्ताओं, राजनीतिज्ञों, विधि–वेत्ताओं द्वारा उक्त सिद्धांत पर यह प्रश्न चिन्ह लगाए हैं कि यह विधायिका की शक्ति में हस्तक्षेप करता है, जिससे स्वयं शक्ति–पृथक्करण के सिद्धांत जो मूल ढांचे का तत्व है का उल्लंघन होता है। साथ ही संवैधानिक आधारों का अभाव पाया जाना और अंतर्निहित विषयपरकता के आधार पर उक्त सिद्धांत की आलोचना की जाती रही है। फिर भी मूल ढांचे के बैनर तले न्यायपालिका द्वारा शक्ति के प्रयोगातिरेक या संविधान द्वारा निर्धारित शक्ति संतुलन के नकारात्मक स्वरूप से प्रभावित होने की आशंकाओं के बीच भी मूल ढांचा सिद्धांत के वजूद में आने के 50 वर्षों के बाद भी इसका कार्यकरण यह साबित करता है कि इस सिद्धांत ने शक्ति संतुलन के एक सहायक सिद्धांत तथा उपकरण के रूप में कार्य किया है। मूल ढांचा सिद्धांत भारतीय संविधान की अनुकूलन क्षमता के रूप में उभर रहा है। यह उन मूल सिद्धांतों की रक्षा करता है जो राष्ट्र की नींव बनाते हैं। संविधान का मूल ढांचा सिद्धांत के 50 वर्षों के अनुभव साबित होता है कि इसने संविधान के मूल उपबंधों, मूल्यों एवं आदर्शों को संरक्षित करने तथा संविधान द्वारा स्थापित शक्ति संतुलन को बनाए रखने में अहम आधारस्तंभ के रूप में कार्य किया है।

सन्दर्भ सूची–

- *गौतम, बलवान (सं.) (2013) राजनीतिक सिद्धांत : अवधारणाएं एवं विमर्श, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय पृष्ठ 37*
- *आशीर्वादम, एडी एवं मिश्र, कृष्णकांत (2016) राजनीति विज्ञान, एस. चन्द पब्लिकेशन, नई दिल्ली पृष्ठ 149*
- *लक्ष्मीकांत, एम. (2022) भारत की राजव्यवस्था, मैकग्रा हिल एजुकेशन (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, चेन्नई पृष्ठ 11.2*
- *https%@@www-sci-gov-in@constitution@ (Retrieved on 02 September 2024)*
- *ChromeeÛtension%@@efaidnbmnnnibpcajpcglclefindmkaj@https%@@lddashboard legislative-gov-in@sites@default@files@coi@COI&2024-pdf page 06 (Retrieved on 02 September 2024)*
- *ChromeeÛtension%@@efaidnbmnnnibpcajpcglclefindmkaj@https%@@main-sci-gov-in@jonew@judis@29981-pdf (Retrieved on 03 September 2024)*
- *https%@@judgments-ecourts-gov-in@KBJ@\p¾home@intro (Retrieved on 04 September 2024)*
- *https%@@judgments ecourts gov in@KBJ@\p¾home@issues (Retrieved on 02 S eptember 2024)*

- *गुहा, रामचन्द्र (2012) अनुवाद सुशांत झा, भारत नेहरू के बाद : दुनिया के विशालतम लोकतंत्र का इतिहास, पेंगुइन रैंडम हाउस, इंडिया पृष्ठ 127*
- *पूर्वोक्त, पृष्ठ 128*
- *उपाध्याय, डॉ. जय जय राम (2019) भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ एजेंसी, इलाहाबाद पृष्ठ 195*
- *https%@@indiankanoon-org@doc@936707@ (Retrieved on 05 September 2024)*
- *पूर्वोक्त, उपाध्याय, डॉ. जय जय राम पृष्ठ 24–25*
- *https%@@indiankanoon-org@doc@1215719@ (Retrieved on 06 September 2024)*
- *पूर्वोक्त, लक्ष्मीकांत, एम. पृष्ठ 11.3*
- *पूर्वोक्त, लक्ष्मीकांत, एम. पृष्ठ 11.3*
- *पूर्वोक्त, उपाध्याय, डॉ. जय जय राम पृष्ठ 189*
- *पूर्वोक्त पृष्ठ 190*
- ***पूर्वोक्त, लक्ष्मीकांत, एम. पृष्ठ 11.***